

# राजेंद्र माथुर की पत्रकारिता और आज की पतन की पत्रकारिता



पत्रकारिता के एक ऐसे अंधकार भरे कालखंड जिसमें एक बड़ी संख्या में अखबार मालिकों की किडनियाँ हुकूमतों द्वारा विज्ञापनों की एवज़ में निकाल लीं गई हों, कई सम्पादकों की रीढ़ की हड्डियाँ अपनी जगहों से खिसक चुकीं हों, अपने को उनका शिष्य या शागिर्द बताने का दम्भ भरने वाले कई पत्रकार भयातुर होकर सत्ता की चाकरी के काम में जुट चुके हों, राजेंद्र माथुर अगर आज हमारे बीच होते तो किस समाचार पत्र के सम्पादक होते, किसके लिए लिख रहे होते और कौन उन्हें छापने का साहस कर रहा होता ? भारतीय पत्रकारिता के इस यशस्वी सम्पादक-पत्रकार की आज (नौ अप्रैल) पुण्यतिथि है।

पत्रकारिता जिस दौर से आज गुज़र रही है उसमें राजेंद्र माथुर का स्मरण करना भी साहस का काम माना जा सकता है। ऐसा इसलिए कि नौ अप्रैल 1991 के दिन वे तमाम लोग जो दिल्ली में स्वास्थ्य विहार स्थित उनके निवास स्थान पर सैंकड़ों की संख्या में जमा हुए थे उनमें से अधिकांश पिछले तीस वर्षों के दौरान या तो हमारे बीच से अनुपस्थित हो चुके हैं या उनमें से कई ने राजेंद्र माथुर के शारीरिक चोला त्यागने के बाद अपनी पत्रकारिता के चोले और झोले बदल लिए हैं।

इंदौर से सटे धार ज़िले के छोटे से शहर बदनावर से निकलकर पहले अविभाजित मध्य प्रदेश में अपनी कीर्ति पताका फहराने और फिर निर्मम दिल्ली के कवच को भेद कर वहाँ के पत्रकारिता संसार में अपने लिए जगह बनाने वाले राजेंद्र माथुर को याद करना कई कारणों से ज़रूरी हो गया है। वक्त जैसे-जैसे बीतता जाएगा, उन्हें याद करने के कारणों में भी इज़ाफ़ा होता जाएगा। अपने बीच उनके न होने की कमी और तीव्रता के साथ महसूस की जाएगी। उनके जैसा होना या बन पाना तो आसान काम है ही नहीं, उनके नाम को पत्रकारिता के इस अंधे युग में ईमानदारी के साथ जी पाना भी चुनौतीपूर्ण हो गया है।

सोचने का सवाल यह है कि राजेंद्र माथुर अगर आज होते तो किस 'नई दुनिया' या 'नवभारत टाइम्स' में अपनी विलक्षण प्रतिभा और अप्रतिम साहस के लिए जगहें तलाश रहे होते ? क्या वे अपने इर्द-गिर्द किसी राहुल बारपुते, गिरिलाल जैन, शरद जोशी या विष्णु खरे को खड़ा हुआ पाते ? क्या इस बात पर आश्चर्य नहीं व्यक्त किया जाना चाहिए कि इस समय जब छोटी-छोटी जगहों पर साधनहीन पत्रकारों को उनकी साहसपूर्ण पत्रकारिता के लिए असहिष्णु सत्ताओं द्वारा जेलों में डाला जा रहा है, थानों पर कपड़े उतरवाकर उन्हें नंगा किया जा रहा है, 1975 में आपातकाल के खिलाफ़ लगातार लिखते रहने वाले राजेंद्र माथुर को इंदिरा गांधी की हुकूमत ने क्यों नहीं सताया, जेल में बंद क्यों नहीं किया ? राजेंद्र

माथुर आपातकालीन प्रेस सेन्सरशिप की खुले आम धज्जियाँ उड़ाते रहे पर उनके खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं हुई ,देशद्रोह का मुकदमा दर्ज नहीं हुआ !तीन छोटी-छोटी बच्चियों के पिता राजेंद्र माथुर सिर्फ़ चालीस वर्ष के थे जब वे दिल्ली के मुकाबले इंदौर जैसे अपेक्षाकृत छोटे शहर से प्रकाशित होने वाले दैनिक समाचार पत्र 'नई दुनिया' में आपातकाल के खिलाफ़ लिखते हुए देश की सर्वोच्च तानाशाह हुकूमत को ललकार रहे थे।

माथुर साहब का जब निधन हुआ तो उनके घर पहुँचकर श्रद्धांजलि अर्पित करने वालों में राजीव गांधी भी थे।राजीव गांधी के चेहरे पर एक ईमानदार सम्पादक के असामयिक निधन को लेकर शोक झलक रहा था।राजीव गांधी जानते थे कि माथुर साहब ने उनके भी खिलाफ़ खूब लिखा था जब वे प्रधानमंत्री के पद पर क्राबिज़ थे।माथुर साहब के निवास स्थान से निगम बोध घाट तक जिस तरह का शोक व्याप्त था उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता।माथुर साहब जब गए उनकी उम्र सिर्फ़ छप्पन साल की थी पर लेखन उन्होंने आगे आने वाले सौ सालों का पूरा कर लिया था।

माथुर साहब के मित्र और पाठक उन्हें रज्जू बाबू के प्रिय सम्बोधन से ही जानते थे।'नई दुनिया'अख़बार के दफ़्तर में भी उनके लिए यही सम्बोधन प्रचलित था- मालिकों से लेकर सेवकों और उनसे मिलने के लिए आने वाले पत्रकार-लेखकों तक।देश भर के लाखों पाठक रज्जू बाबू के लिखे की प्रतीक्षा करते नहीं थकते थे।आपातकाल का विरोध करते हुए उनका किसी दिन कुछ नहीं लिखना और अख़बार में जगह को ख़ाली छोड़ देना भी पाठकों की सुबह की प्रतीक्षा का हिस्सा बन गया था।अख़बार की ख़ाली जगह में जो नहीं लिखा जाता था पाठकों ने उसमें भी रज्जू बाबू के शब्दों को डालकर पढ़ना सीख लिया था।वे जानते थे माथुर साहब ख़ाली स्थान पर क्या कुछ लिखना चाहते होंगे।

यह पत्रकारिता के उस काल की बात है जब राजेंद्र माथुर को केवल जान लेना भर भी अपने आपको सम्मानित करने के लिए पर्याप्त था।उन लोगों के रोमांच की तो केवल कल्पना ही की जा सकती है जिन्होंने उनके साथ काम किया होगा ,उनके साथ बातचीत और चहल-कदमी के अद्भुत क्षणों को जीया होगा।राजेंद्र माथुर यानी एक ऐसा सम्पादक जिसके पास सिर्फ़ एक ही चेहरा हो, जिसकी बार-बार कुछ अंदर से कुछ नया टटोलने के लिए पल भर को हल्के से बंद होकर खुलने वाली कोमल आँखें हों और हरेक फ़ोटो-फ़्रेम में एक जैसी नज़र आने वाली शांत छवि हो।

इंदौर का रूपराम नगर हो या ब्रुक बॉर्ड कॉलोनी।वहाँ से निकल कर अपनी धीमी रफ़्तार से चलता हुआ एक स्कूटर जैसे कि वह भी अपने मालिक की तरह ही कुछ सोचता हुआ रफ़्तार ले रहा हो दूर से भी पहचान में आ जाता था कि उस पर सवार व्यक्ति कौन है और वह इस घड़ी कहाँ जा रहा होगा—अपनी बेटियों को लेने पागनिस पागा स्थित शालिनी ताई मोघे के स्कूल या केसरबाग रोड स्थित 'नई दुनिया' अख़बार की तरफ़।वर्ष 1982 में 'नई दुनिया' छोड़कर राजधानी दिल्ली के बहादुर शाह ज़फ़र मार्ग स्थित 'नवभारत टाइम्स' की भव्य इमारत की सीढ़ियाँ चढ़ने के पहले तक देश के इस बड़े सम्पादक के पास अपनी या अख़बार की ओर से दी गई कोई कार नहीं थी।

किसी भी व्यक्ति की कमी उस समय और ज़्यादा खलती है जब उसके प्रतिरूप या प्रतिमान देखने को भी नहीं मिलते।गढ़े भी नहीं जा सकते हों।पत्रकारिता जब वैचारिक रूप से अपनी विपन्नता के सबसे

खराब दौर से गुज़र रही हो ,संवाद-वाहकों ने खबरों के सरकारी स्टॉक एक्सचेंजों के लायसेन्सी दलालों के तौर पर मैदान सम्भाल लिए हों , मीडिया पर सेंसरशिप थोपने के लिए किसी औपचारिक आपातकाल की ज़रूरत समाप्त हो गई हो ,राजेंद्र माथुर का स्मरण बंजर भूमि में तुलसी के किसी जीवित पौधे की उपलब्धि जैसा है।मेरा सौभाग्य है कि कोई दो दशकों तक मुझे उनका सानिध्य और स्नेह प्राप्त होता रहा।उनकी स्मृति को विनम्र श्रद्धांजलि।



(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं व स्व. राजेन्द्र माथुर के सहयोगी रह चुके हैं)